

भारत में समान नागरिक संहिता: राष्ट्रीय एकीकरण, लैंगिक न्याय और संवैधानिक समरसता के लिए समय की अनिवार्य आवश्यकता

रोहित कुमार

एलएलएम हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय

शिमला हिमाचल प्रदेश

सारांश

भारत एक बहुलतावादी समाज है, जहाँ विभिन्न धार्मिक समुदायों के लिए अलग-अलग व्यक्तिगत कानून लागू हैं। यह व्यवस्था ऐतिहासिक रूप से विकसित हुई है, किन्तु वर्तमान लोकतांत्रिक और संवैधानिक मूल्यों के संदर्भ में यह कई प्रकार की असमानताओं और अंतर्विरोधों को जन्म देती है। समान नागरिक संहिता का उद्देश्य इन असमानताओं को समाप्त करते हुए सभी नागरिकों के लिए एक समान विधिक ढाँचा स्थापित करना है। यह शोध लेख समान नागरिक संहिता की आवश्यकता का विश्लेषण तीन प्रमुख आयामों-राष्ट्रीय एकीकरण, लैंगिक न्याय और संवैधानिक समरसता के संदर्भ में करता है। अध्ययन यह दर्शाता है कि व्यक्तिगत कानूनों की विविधता न केवल विधिक जटिलता उत्पन्न करती है, बल्कि यह सामाजिक विभाजन और लैंगिक असमानता को भी बढ़ावा देती है। विशेष रूप से महिलाओं के अधिकारों के संदर्भ में यह समस्या अधिक स्पष्ट रूप से सामने आती है।

इस शोध में यह भी स्पष्ट किया गया है कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 44 के अंतर्गत समान नागरिक संहिता एक महत्वपूर्ण नीति-निर्देशक तत्व के रूप में निहित है, जिसका उद्देश्य सामाजिक न्याय और विधिक समानता को सुदृढ़ करना है। हालांकि, इसके कार्यान्वयन में धार्मिक संवेदनशीलता, राजनीतिक हित और सामाजिक स्वीकृति जैसी चुनौतियाँ भी विद्यमान हैं। अतः यह निष्कर्ष निकाला गया है कि समान नागरिक संहिता का कार्यान्वयन चरणबद्ध, संवादात्मक और संवेदनशील दृष्टिकोण के साथ किया जाना चाहिए, ताकि यह वास्तव में एक समतामूलक और समरस समाज की स्थापना में सहायक हो सके।

बीज शब्द:- समान नागरिक संहिता, भारतीय संविधान, सर्वोच्च न्यायालय, लैंगिक समानता, नीति निर्देशक तत्व, अनुच्छेद-14

प्रस्तावना

भारत अपनी विविधताओं के कारण विश्व के अन्य राष्ट्रों से अलग पहचान रखता है। यहाँ अनेक धर्मों, परंपराओं और सामाजिक संरचनाओं का सह-अस्तित्व देखने को मिलता है, जो भारतीय समाज को एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान करता है। परंतु यही विविधता जब विधिक क्षेत्र में प्रवेश करती है, तो कई बार जटिलताओं और असमानताओं का कारण बन जाती है। विशेष रूप से व्यक्तिगत कानूनों की व्यवस्था, जो विभिन्न धार्मिक समुदायों के लिए अलग-अलग नियम निर्धारित करती है, आधुनिक लोकतांत्रिक मूल्यों के साथ एक प्रकार का अंतर्विरोध उत्पन्न करती है। ब्रैन्विल ऑस्टिन ने उचित ही कहा है कि, “The Indian Constitution is first and foremost a social document.” उनका मानना है कि भारतीय संविधान केवल शासन की रूपरेखा नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन और समानता की दिशा में एक सक्रिय साधन भी है।

भारतीय संविधान ने एक ओर सभी नागरिकों को समानता और स्वतंत्रता के अधिकार प्रदान किए हैं, वहीं दूसरी ओर अनुच्छेद 44 के माध्यम से राज्य को यह दिशा भी दी है कि वह नागरिकों के लिए एक

समान नागरिक संहिता लागू करने का प्रयास करें। इस व्यवस्था का उद्देश्य यह है कि विवाह, तलाक, उत्तराधिकार और भरण-पोषण जैसे विषयों में धर्म के आधार पर भेदभाव समाप्त किया जा सके और सभी नागरिकों के लिए एक समान विधिक ढाँचा स्थापित किया जा सके। वर्तमान समय में यह प्रश्न और अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि व्यक्तिगत कानूनों की बहुलता कई बार लैंगिक असमानता को बढ़ावा देती है। विशेषकर महिलाओं के अधिकारों के संदर्भ में यह समस्या अधिक स्पष्ट रूप से सामने आती है, जहाँ विभिन्न समुदायों के कानूनों में समानता का अभाव दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में समान नागरिक संहिता केवल विधिक सुधार का माध्यम नहीं रह जाती, बल्कि यह सामाजिक न्याय की दिशा में एक आवश्यक कदम के रूप में उभरती है। इसके साथ ही, अलग-अलग कानूनों की उपस्थिति राष्ट्रीय एकता की भावना को भी प्रभावित करती है। जब नागरिकों के लिए अलग-अलग नियम लागू होते हैं, तो एक समान नागरिकता की अवधारणा कमजोर पड़ती है। समान नागरिक संहिता इस अंतर को कम करने और एक साझा विधिक पहचान स्थापित करने का प्रयास करती है।

इस संदर्भ में, यह अध्ययन समान नागरिक संहिता को केवल एक कानूनी प्रस्ताव के रूप में नहीं, बल्कि एक व्यापक सामाजिक और संवैधानिक आवश्यकता के रूप में देखने का प्रयास करता है। इसका उद्देश्य यह समझना है कि किस प्रकार यह व्यवस्था राष्ट्रीय एकीकरण, लैंगिक न्याय और संवैधानिक समरसता को सुदृढ़ करने में सहायक हो सकती है।

समान नागरिक संहिता की अवधारणा

समान नागरिक संहिता का मूल आशय एक ऐसे विधिक ढाँचे की स्थापना से है, जो धर्म, जाति, लिंग अथवा समुदाय के भेद के बिना सभी नागरिकों पर समान रूप से लागू हो। वर्तमान भारतीय विधि व्यवस्था में विवाह, तलाक, उत्तराधिकार, गोद लेने और भरण-पोषण जैसे विषयों में विभिन्न धार्मिक समुदायों के लिए अलग-अलग व्यक्तिगत कानून लागू हैं। यह व्यवस्था ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप विकसित हुई है, किन्तु आधुनिक लोकतांत्रिक मूल्यों के संदर्भ में यह कई बार समानता और न्याय के सिद्धांतों से टकराती हुई प्रतीत होती है। समान नागरिक संहिता की अवधारणा इसी असमानता को समाप्त करने का प्रयास करती है। इसका उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि नागरिकों के निजी जीवन से जुड़े महत्वपूर्ण मामलों में कानून का आधार धर्म नहीं, बल्कि नागरिकता और समान अधिकार हों। इस दृष्टिकोण में राज्य को एक तटस्थ संस्था के रूप में देखा जाता है, जो सभी नागरिकों के साथ समान व्यवहार करता है और किसी विशेष धार्मिक परंपरा को प्राथमिकता नहीं देता।

भारतीय संविधान के नीति-निर्देशक तत्वों में निहित यह विचार इस बात को दर्शाता है कि संविधान निर्माताओं ने एक ऐसे समाज की परिकल्पना की थी, जहाँ विधिक समानता सामाजिक समरसता को सुदृढ़ करें। इस संदर्भ में ब्रैन्विल ऑरिस्टन का यह कथन उल्लेखनीय है कि “*The Constitution seeks to bring about a social revolution.*” वह संविधान को केवल शासन का ढाँचा निर्धारित करने वाला नहीं मानते, बल्कि संविधान समाज को अधिक न्यायपूर्ण और समान बनाने का भी प्रयास करता है। समान नागरिक संहिता की अवधारणा इसी सामाजिक परिवर्तन की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम मानी जाती है। यह न केवल विधिक एकरूपता स्थापित करने का प्रयास करती है, बल्कि यह नागरिकों के बीच समानता की भावना को भी प्रबल बनाती है। जब सभी नागरिक एक ही कानून के अधीन होते हैं, तो यह एक साझा नागरिक पहचान को विकसित करता है, जो राष्ट्रीय एकता को भी सुदृढ़ करता है।

हालाँकि, इस अवधारणा को लागू करना सरल नहीं है। भारत जैसे बहुलतावादी समाज में, जहाँ धार्मिक और सांस्कृतिक विविधता गहराई से स्थापित है, एक समान कानून लागू करने के लिए संवेदनशील दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है। इस प्रक्रिया में यह सुनिश्चित करना आवश्यक है कि विधिक सुधार सामाजिक स्वीकृति के साथ हो, ताकि यह परिवर्तन स्थायी और प्रभावी बन सके। समय की आवश्यकता

है की समान नागरिक संहिता की अवधारणा को केवल विधिक सुधार के रूप में नहीं, बल्कि एक व्यापक सामाजिक परिवर्तन के साधन के रूप में समझना चाहिए, जिसका उद्देश्य समानता, न्याय और समरसता पर आधारित समाज की स्थापना करना है।

संवैधानिक परिप्रेक्ष्य

समान नागरिक संहिता का प्रश्न भारतीय संविधान की मूल संरचना और उसके मूल्यों से गहराई से जुड़ा हुआ है। भारतीय संविधान ने एक ओर नागरिकों को व्यापक मौलिक अधिकार प्रदान किए हैं, वहीं दूसरी ओर राज्य को नीति-निर्देशक तत्वों के माध्यम से सामाजिक और विधिक सुधार की दिशा भी निर्धारित की है। इसी संदर्भ में अनुच्छेद 44 का विशेष महत्व है, जो राज्य को यह निर्देश देता है कि वह नागरिकों के लिए एक समान नागरिक संहिता लागू करने का प्रयास करे।

संविधान का तृतीय भाग, जो मौलिक अधिकारों से संबंधित है, नागरिकों को समानता (अनुच्छेद 14), भेदभाव के निषेध (अनुच्छेद 15) और जीवन एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता (अनुच्छेद 21) जैसे महत्वपूर्ण अधिकार प्रदान करता है। इसके साथ ही, अनुच्छेद 25 के अंतर्गत धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार भी दिया गया है, जिसके तहत प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म का पालन करने की स्वतंत्रता प्राप्त है। यहीं से एक महत्वपूर्ण संवैधानिक द्वंद्व उत्पन्न होता है, एक ओर समानता और न्याय के सिद्धांत हैं, तो दूसरी ओर धार्मिक स्वतंत्रता के आधार पर संचालित व्यक्तिगत कानून। यह द्वंद्व विशेष रूप से तब स्पष्ट होता है जब व्यक्तिगत कानून मौलिक अधिकारों, विशेषकर लैंगिक समानता, के विपरीत दिखाई देते हैं। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि क्या धार्मिक परंपराओं के नाम पर असमानता को बनाए रखा जा सकता है, या फिर संविधान के मूल सिद्धांतों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। इस संदर्भ में एच.एम. सीरवी ने कहा है “*Directive Principles are fundamental in the governance of the country.*” भले ही नीति-निर्देशक तत्व न्यायालय द्वारा बाध्यकारी न हों, फिर भी वे शासन की दिशा निर्धारित करने में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अनुच्छेद 44 इसी व्यापक संवैधानिक दृष्टि का हिस्सा है, जो यह संकेत देता है कि राज्य को धीरे-धीरे एक ऐसे विधिक ढाँचे की ओर बढ़ना चाहिए, जहाँ सभी नागरिकों के लिए समान कानून लागू हो। यह केवल विधिक एकरूपता का प्रश्न नहीं है, बल्कि यह सामाजिक न्याय, समानता और धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांतों को सुदृढ़ करने का प्रयास भी है।

हालाँकि, इस प्रक्रिया में यह भी आवश्यक है कि धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार का सम्मान किया जाए। संविधान ने किसी भी प्रकार के कठोर हस्तक्षेप के बजाय संतुलन की नीति अपनाई है, जहाँ सुधार और परंपरा दोनों को ध्यान में रखा जाता है। संवैधानिक दृष्टिकोण से समान नागरिक संहिता को एक ऐसे उपकरण के रूप में देखा जा सकता है, जो मौलिक अधिकारों और नीति-निर्देशक तत्वों के बीच संतुलन स्थापित करते हुए एक अधिक न्यायपूर्ण और समतामूलक समाज की स्थापना में सहायक हो सकता है।

राष्ट्रीय एकीकरण में समान नागरिक संहिता की भूमिका

समान नागरिक संहिता का प्रश्न केवल विधिक सुधार तक सीमित नहीं है, बल्कि यह राष्ट्रीय एकीकरण से भी गहराई से जुड़ा हुआ है। भारत जैसे बहुलतावादी समाज में, जहाँ विभिन्न धर्मों, भाषाओं और संस्कृतियों का सह-अस्तित्व है, एक समान नागरिक पहचान का निर्माण एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। वर्तमान व्यवस्था में विभिन्न धार्मिक समुदायों के लिए अलग-अलग व्यक्तिगत कानून लागू होने के कारण नागरिकों के बीच विधिक असमानता बनी रहती है, जो कई बार सामाजिक विभाजन को भी बढ़ावा देती है। राष्ट्रीय एकीकरण का अर्थ केवल भौगोलिक एकता नहीं है, बल्कि यह एक ऐसी सामूहिक चेतना का निर्माण है, जिसमें सभी नागरिक स्वयं को एक समान विधिक और सामाजिक ढाँचे का हिस्सा महसूस करें। जब नागरिकों के लिए अलग-अलग नियम लागू होते हैं, तो यह एक समान नागरिकता की भावना को कमजोर

करता है। समान नागरिक संहिता इस स्थिति को बदलने का प्रयास करती है, क्योंकि यह सभी नागरिकों को एक ही कानून के अधीन लाकर एक साझा विधिक पहचान स्थापित करती है।

इस संदर्भ में शाह बानो के मामले में सर्वोच्च न्यायालय का यह कथन उल्लेखनीय है कि “A common civil code will help the cause of national integration.” सर्वोच्च न्यायालय ने समय-समय पर स्पष्ट किया है की विधिक एकरूपता सामाजिक एकता को सुदृढ़ करने का एक महत्वपूर्ण साधन है। समान नागरिक संहिता के माध्यम से यह सुनिश्चित किया जा सकता है कि सभी नागरिकों के साथ समान व्यवहार किया जाए, चाहे उनका धर्म या समुदाय कोई भी हो। इससे न केवल भेदभाव की भावना कम होगी, बल्कि नागरिकों के बीच पारस्परिक विश्वास और समानता की भावना भी विकसित होगी।

हालाँकि, यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि राष्ट्रीय एकीकरण का अर्थ सांस्कृतिक एकरूपता नहीं है। भारत की शक्ति उसकी विविधता में निहित है, और किसी भी विधिक सुधार को इस विविधता का सम्मान करते हुए ही लागू किया जाना चाहिए। यदि समान नागरिक संहिता को संवेदनशीलता और सहमति के साथ लागू किया जाता है, तो यह न केवल विधिक एकरूपता स्थापित करेगी, बल्कि सामाजिक समरसता को भी मजबूत करेगी। इस प्रकार, समान नागरिक संहिता को राष्ट्रीय एकीकरण के एक प्रभावी उपकरण के रूप में देखा जा सकता है, जो नागरिकों के बीच समानता, विश्वास और एकता की भावना को सुदृढ़ करते हुए भारत को एक अधिक समेकित और सशक्त राष्ट्र बनाने में सहायक हो सकती है।

लैंगिक न्याय और समान नागरिक संहिता

समान नागरिक संहिता का सबसे महत्वपूर्ण और संवेदनशील पहलू लैंगिक न्याय से संबंधित है। भारतीय समाज में व्यक्तिगत कानूनों की व्यवस्था ने ऐतिहासिक रूप से विभिन्न समुदायों की परंपराओं और धार्मिक मान्यताओं को संरक्षित किया है, किन्तु इन कानूनों में कई ऐसे प्रावधान भी विद्यमान हैं जो महिलाओं के अधिकारों के साथ असमान व्यवहार करते हैं। विवाह, तलाक, उत्तराधिकार और भरण-पोषण जैसे विषयों में विभिन्न व्यक्तिगत कानूनों के अंतर्गत महिलाओं की स्थिति समान नहीं है, जिससे संविधान द्वारा प्रदत्त समानता के सिद्धांतों का उल्लंघन होता है।

लैंगिक न्याय का अर्थ केवल समान अधिकार प्रदान करना नहीं है, बल्कि यह सुनिश्चित करना भी है कि महिलाओं को गरिमा, सुरक्षा और अवसरों की समानता प्राप्त हो। जब कानून स्वयं भेदभावपूर्ण हो, तो सामाजिक न्याय की स्थापना कठिन हो जाती है। इस संदर्भ में समान नागरिक संहिता एक ऐसे साधन के रूप में उभरती है, जो महिलाओं के अधिकारों को समान और न्यायपूर्ण आधार प्रदान कर सकती है। फ्लॉविया एग्नस का यह कथन इस विमर्श को गहराई से स्पष्ट करता है कि “Uniformity should not come at the cost of diversity.” यद्यपि समानता आवश्यक है, किन्तु इसे लागू करते समय सामाजिक और सांस्कृतिक विविधताओं का सम्मान भी किया जाना चाहिए। समान नागरिक संहिता का उद्देश्य केवल सभी के लिए एक समान कानून लागू करना नहीं होना चाहिए, बल्कि यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि यह कानून वास्तव में न्यायपूर्ण और समावेशी हो। यदि किसी समुदाय की परंपराएँ महिलाओं के साथ भेदभाव करती हैं, तो ऐसे प्रावधानों में सुधार आवश्यक है, भले ही वे धार्मिक आधार पर क्यों न हों।

वर्तमान समय में महिलाओं की सामाजिक और आर्थिक स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है। वे शिक्षा, रोजगार और नेतृत्व के विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय भूमिका निभा रही हैं, जिसके परिणामस्वरूप उनके अधिकारों के प्रति जागरूकता भी बढ़ी है। ऐसी स्थिति में यह अपेक्षा की जाती है कि विधिक व्यवस्था भी इस परिवर्तन के अनुरूप विकसित हो और महिलाओं को समान अवसर प्रदान करे। समान नागरिक संहिता इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम हो सकती है, क्योंकि यह सभी नागरिकों के लिए एक समान और न्यायपूर्ण विधिक ढाँचा स्थापित करने का प्रयास करती है। इससे महिलाओं को न केवल विधिक संरक्षण मिलेगा, बल्कि समाज में उनकी स्थिति भी सुदृढ़ होगी। समान नागरिक संहिता का उद्देश्य केवल विधिक एकरूपता

स्थापित करना नहीं है, बल्कि यह लौंगिक न्याय को सुनिश्चित करने की दिशा में एक आवश्यक और सार्थक प्रयास भी है, जो एक अधिक समतामूलक और न्यायपूर्ण समाज के निर्माण में सहायक हो सकता है।

न्यायपालिका की भूमिका: समान नागरिक संहिता पर दृष्टिकोण

समान नागरिक संहिता के प्रश्न पर भारतीय न्यायपालिका ने समय-समय पर महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ और निर्देश दिए हैं, जो इस विषय के संवैधानिक और सामाजिक महत्व को रेखांकित करते हैं। यद्यपि अनुच्छेद 44 नीति-निर्देशक तत्वों के अंतर्गत आता है और न्यायालय द्वारा बाध्यकारी नहीं है, फिर भी सर्वोच्च न्यायालय ने कई मामलों में इसकी प्रासंगिकता और आवश्यकता पर बल दिया है। भारतीय न्यायपालिका का दृष्टिकोण यह रहा है कि व्यक्तिगत कानूनों की विविधता, विशेषकर जब वे मौलिक अधिकारों से टकराते हैं, तो यह समानता और न्याय के सिद्धांतों को प्रभावित कर सकती है। इसी कारण न्यायालय ने बार-बार यह संकेत दिया है कि राज्य को इस दिशा में सक्रिय कदम उठाने चाहिए।

इस संदर्भ में सरला मुद्गल व भारतीय राज्य संघ में सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट रूप से कहा कि "There is no justification to keep in abeyance the implementation of Article 44." न्यायपालिका ने समान नागरिक संहिता को केवल एक वैकल्पिक विचार नहीं, बल्कि एक आवश्यक संवैधानिक लक्ष्य के रूप में देखा है। इसके अतिरिक्त, न्यायालय ने यह भी इंगित किया है कि विभिन्न व्यक्तिगत कानूनों के कारण न्याय के परिणाम भी भिन्न हो सकते हैं, जो समानता के सिद्धांत के विपरीत है। यदि समान परिस्थितियों में अलग-अलग कानून लागू होते हैं, तो यह न्याय की एकरूपता को बाधित करता है और नागरिकों के बीच असंतोष उत्पन्न करता है।

हालाँकि, न्यायपालिका ने अपने अधिकार क्षेत्र की सीमाओं को भी समझा है। समान नागरिक संहिता का कार्यान्वयन एक विधायी विषय है, और इसे लागू करने की जिम्मेदारी संसद और कार्यपालिका पर निर्भर करती है। न्यायालय केवल इस दिशा में मार्गदर्शन और सुझाव दे सकता है, न कि स्वयं कानून बना सकता है। इसके बावजूद, न्यायपालिका की सक्रियता ने इस विषय को सार्वजनिक और राजनीतिक विमर्श के केंद्र में बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। न्यायालय के निर्णयों ने यह स्पष्ट किया है कि व्यक्तिगत कानूनों में सुधार आवश्यक है, विशेषकर तब जब वे मौलिक अधिकारों के विपरीत हों। भारतीय न्यायपालिका ने समान नागरिक संहिता के संदर्भ में एक प्रेरक और मार्गदर्शक भूमिका निभाई है। उसने न केवल इसके महत्व को रेखांकित किया है, बल्कि राज्य को यह भी स्मरण कराया है कि संविधान में निहित इस उद्देश्य को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

निष्कर्ष

समान नागरिक संहिता का प्रश्न भारतीय विधिक और सामाजिक व्यवस्था के सबसे जटिल और संवेदनशील मुद्दों में से एक है। यह केवल एक विधिक सुधार का विषय नहीं है, बल्कि यह भारतीय संविधान के मूल आदर्शों—समानता, न्याय और धर्मनिरपेक्षता—की वास्तविक अभिव्यक्ति से जुड़ा हुआ है। इस अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि वर्तमान व्यक्तिगत कानूनों की बहुलता कई स्तरों पर असमानता और विभाजन को जन्म देती है, विशेष रूप से लौंगिक न्याय के संदर्भ में यह समस्या अधिक गंभीर रूप से उभरती है। राष्ट्रीय एकीकरण के दृष्टिकोण से भी समान नागरिक संहिता का महत्व अत्यंत महत्वपूर्ण है। जब सभी नागरिकों के लिए एक समान विधिक व्यवस्था लागू होती है, तो यह एक साझा नागरिक पहचान को सुदृढ़ करती है और सामाजिक समरसता को बढ़ावा देती है। साथ ही, यह संविधान में निहित समानता के सिद्धांत को व्यावहारिक रूप प्रदान करने का माध्यम भी बनती है।

हालाँकि, यह भी स्वीकार करना आवश्यक है कि भारत की सामाजिक और सांस्कृतिक विविधता इस प्रक्रिया को जटिल बनाती है। किसी भी प्रकार का त्वरित या एकतरफा विधिक परिवर्तन सामाजिक असंतोष को जन्म दे सकता है। इसलिए समान नागरिक संहिता को लागू करने के लिए एक संतुलित और संवेदनशील दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है, जिसमें सभी समुदायों की भागीदारी और सहमति सुनिश्चित की जाए। इस संदर्भ में डॉ. भीमराव अम्बेडकर का यह विचार अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होता है कि “No reform can succeed without the acceptance of the people.” किसी भी सामाजिक या विधिक सुधार की सफलता उसके सामाजिक स्वीकृति पर निर्भर करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि समान नागरिक संहिता भारत के लिए एक आवश्यक और प्रासंगिक लक्ष्य है, किन्तु इसका कार्यान्वयन क्रमिक, समावेशी और संवादात्मक प्रक्रिया के माध्यम से ही संभव है। यदि इसे संवैधानिक मूल्यों और सामाजिक यथार्थ के संतुलन के साथ लागू किया जाए, तो यह एक अधिक न्यायपूर्ण, समतामूलक और समरस समाज के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

संदर्भ सूची

1. द कॉन्स्टिट्यूशन ऑफ इंडिया. नई दिल्ली: भारत सरकार, 1950।
2. कॉन्स्टिट्यूट असेंबली डिबेट्स. खंड VII-XI. नई दिल्ली: लोकसभा सचिवालय, 1946-1949
3. मो. अहमद खान बनाम शाह बानो बेगम, AIR 1985 SC 945 (1985)
4. सरला मुद्गल बनाम यूनियन ऑफ इंडिया, AIR 1995 SC 1531 (1995)
5. दानियल लतीफी बनाम यूनियन ऑफ इंडिया, AIR 2001 SC 3958 (2001)
6. ऑस्टिन, ब्रैनविल. द इंडियन कॉन्स्टिट्यूशन: कॉर्नरस्टोन ऑफ अ नेशन. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1966
7. ऑस्टिन, ब्रैनविल. वर्किंग अ डेमोक्रेटिक कॉन्स्टिट्यूशन: द इंडियन एक्सपीरियंस. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1999
8. बसु, डी. डी. इंट्रोडक्शन टू द कॉन्स्टिट्यूशन ऑफ इंडिया. लेक्सिसनेक्सस, 2015 (संस्करण अनुसार)
9. सीरवाई, एच. एम. कॉन्स्टिट्यूशनल लॉ ऑफ इंडिया. यूनिवर्सल लॉ पब्लिशिंग, 1996।
10. जैन, एम. पी. इंडियन कॉन्स्टिट्यूशनल लॉ. लेक्सिसनेक्सस, 2014
11. एग्नेस, फ्लाविया. लॉ एंड जेंडर इन इंडिया: द पॉलिटिक्स ऑफ विमेन्स राइट्स इन इंडिया. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1999
12. महमूद, ताहिर. यूनिफॉर्म सिविल कोड: फिक्शन्स एंड फैक्ट्स. यूनिवर्सल लॉ पब्लिशिंग, 2005
13. महमूद, ताहिर. पर्सनल लॉ इन क्राइसिस. त्रिपाठी, 1986
14. मेस्की, वर्नर. हिंदू लॉ: बियाँड ट्रेडिशन एंड मॉडर्निटी. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2003
15. लॉ कमीशन ऑफ इंडिया. कंसल्टेशन पेपर ऑन रिफॉर्म ऑफ फैमिली लॉ. नई दिल्ली, 2018
16. एग्नेस, फ्लाविया. “यूनिफॉर्म सिविल कोड: जेंडर जस्टिस ऑर मेजोरिटेरियनिज्म?” इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, खंड 30, अंक 31, 1995, पृ. 323-330
17. मेस्की, वर्नर. “द यूनिफॉर्म सिविल कोड डिबेट इन इंडियन लॉ.” मॉडर्न एशियन स्टडीज़, खंड 34, अंक 2, 2000, पृ. 355-375
